The Infinite
An International Peer Reviewed / Refereed Journal of Multidisciplinary Research

An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume 2 | Issue 12 | December 2025
ISSN: 3048-9539 (Online)
Website: www.theinfinite.co.in

समृद्धि के आवरण में क्षीण होती आत्मीयताःन्यायमूर्ति सूर्यकान्त की चेतावनी का समालोचनात्मक अध्ययन

प्रो0 अशोक कुमार राय

विधि विभागाध्यक्ष

का0 सु0 साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अयोध्या

ARTICLE DETAILS

Research Paper

मुख्य बिंदुः

पीढ़ीगत दूरी, पारिवारिक मूल्य, वृद्धजन संरक्षण, आधुनिकता का प्रभाव, भारतीय संस्कृति ।

सारांश

भारतीय समाज का मानसिक और सांस्कृतिक ढाँचा सदियों से परिवारिक मूल्यों, पीढ़ियों के बीच सतत संवाद, संवेदनाओं की पारस्परिक धारा, तथा वृद्धजनों के प्रति श्रद्धा एवं सेवा पर आधारित रहा है। यह परम्परा केवल भावनात्मक सम्बन्धों का विस्तार नहीं, बल्कि संपूर्ण सामाजिक–नैतिक संरचना का आधार रही है। किन्तु चौथी औद्योगिक क्रांति, विश्व–बाजार की अर्थव्यवस्था, शहरी प्रवासन, तकनीकी–निर्भरता, उपभोक्तावादी जीवन–शैली और समयाभाव ने भारतीय पारिवारिक संरचना को अप्रत्याशित रूप से प्रभावित किया है। न्यायमूर्ति सूर्यकान्त का यह कथन कि भारत उस पुरानी दुनिया को खोने के कगार पर है जिसने समाज को मानवीय बनाए रखा, केवल भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं बल्कि सामाजिक यथार्थ का अत्यन्त सटीक निदान है।

इस शोध में माननीय न्यायमूर्ति सूर्यकान्त की चेतावनी को भारतीय परिवार–प्रणाली, सांस्कृतिक परम्पराओं, मनोवैज्ञानिक यथार्थ, सामाजिक विसंगतियों और विधिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में विश्लेषित किया गया है। यह अध्ययन यह भी स्पष्ट करता है कि समृद्धि, सुविधाएँ और आधुनिकता मनुष्य को भौतिक रूप से सम्पन्न अवश्य बना सकती हैं, परन्तु यदि वे संबंधों की ऊष्मा, पारिवारिक संवाद और पीढ़ियों की निरंतरता को नष्ट कर दें, तो सभ्यता अपनी मूल आत्मा खो बैठती है। इस शोध में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि भारत की सांस्कृतिक स्मृतियों में वृद्धजन केवल परिवार के सदस्य नहीं थे, बल्कि नैतिकता, धैर्य, और जीवन–दर्शन के जीवित स्रोत थे। अतः आधुनिक

सामाजिक–विकास और पारंपरिक मानवीय मूल्यों के मध्य समन्वय ही इस संकट से उबरने का मार्ग है।

प्रस्तावना

भारतीय सभ्यता उन अपूर्व सांस्कृतिक परम्पराओं में से एक है जिसने हजारों वर्षों तक परिवार को सामाजिक जीवन का सर्वोच्च आधार बनाए रखा। यहाँ परिवार केवल एक आर्थिक इकाई नहीं, बल्कि मानवीय संवेदनाओं, दायित्वों, संकल्पों और त्याग का एक सतत विद्यालय रहा है। दादा–दादी, माता–पिता, भाई–बहनों और बच्चों के मध्य जो स्वाभाविक अपनापन, सहयोग और आत्मीयता थी, उसने भारतीय समाज को एक ऐसे ताने–बाने में पिरोया जिसमें 'व्यक्ति' कभी समूह से पृथक नहीं माना गया। परन्तु आधुनिकता के उदय के साथ मनुष्य का जीवन जैसे तेजी से बदलने लगा, वैसे ही वह उसी तीव्रता से अपनी जड़ों से भी दूर होता चला गया। आज पारिवारिक संवाद कम हुआ है, पीढ़ियों के बीच स्नेह का निर्झर सूखने लगा है, घरों में संपर्क है पर सहानुभूति का अभाव है, और विकास के शोर के बीच बुजुर्गों की मौन पीड़ा अनसुनी रह गई है।

न्यायमूर्ति सूर्यकान्त का वक्तव्य इसी ऐतिहासिक संक्रमण की ओर संकेत करता है। उन्होंने कहा कि समृद्धि ने नजदीकियों की जगह ले ली है, युवा नई दुनिया में काम करने निकल जाते हैं, और पीढ़ियों के बीच संवाद का दरवाजा बंद हो जाता है। उनके शब्दों में भारतीय समाज के उस अदृश्य परिवर्तन का चित्रण है जो बाहरी दृष्टि से भले ही प्रगति प्रतीत हो, परन्तु भीतर से यह संवेदनाओं के क्षरण, दायित्वों की उपेक्षा और पारिवारिक ऊष्मा की विदाई का संकेत है। भारत में वृद्धावस्था पूर्व में उन्नयन का चरण मानी जाती थी—आत्मचिंतन, शिक्षा, अनुभव और सलाह का काल। परन्तु आज अनेक वृद्धजन स्वयं को बोझ मानने लगे हैं। यह स्थिति केवल व्यक्तिगत त्रासदी नहीं, बल्कि समाज के नैतिक स्वास्थ्य की गम्भीर गिरावट का संकेत है।

इस शोध–पत्र का उद्देश्य इस संकट की जड़ों को सामाजिक, दार्शनिक और विधिक परिप्रेक्ष्य में समझना, परिवर्तन के कारणों का विश्लेषण करना और समाधान की ओर उन्मुख मार्ग सुझाना है। परिवार की संरचना में यह परिवर्तन अचानक नहीं हुआ; यह निरंतर बदलते सामाजिक मूल्यों, आर्थिक आकांक्षाओं और सांस्कृतिक संबंधों की क्रमशः शिथिलता का परिणाम है। इस संकट को समझने के लिए हमें यह देखना होगा कि परम्परा में परिवार का स्थान क्या था, आधुनिकता ने किन आयामों को बदल दिया, और न्यायालयों सहित विभिन्न संस्थाओं ने वृद्धजनों की सुरक्षा हेतु क्या उपाय सुझाए।

भारतीय संस्कृति में वृद्धजनों का स्थानः परम्परा और इतिहास का विश्लेषण

भारतीय संस्कृति के मूल में 'वृद्ध' केवल आयु–प्रधान शब्द नहीं बल्कि ज्ञान, धैर्य, परम्परा, संयम और अनुभव का पर्याय रहा है। भारतीय मनीषियों ने गृहस्थ जीवन को मूलभूत माना, परन्तु वृद्धावस्था को 'वानप्रस्थ' का चरण बताया, जिसमें

मनुष्य समाज का मार्गदर्शक बनता है। इस व्यवस्था ने वृद्धजनों को न केवल सम्मान दिया, बल्कि उन्हें परिवार का नैतिक केन्द्र भी बनाया।

प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे अनेकों संदर्भ उपलब्ध हैं जो सिद्ध करते हैं कि बुजुर्गों की सेवा सांस्कृतिक कर्तव्य थी। तैत्तिरीयोपनिषद् का वाक्य "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव" केवल धार्मिक आदेश नहीं, बल्कि सामाजिक नीति थी। महाभारत में भीष्म का आदर्श, रामायण में दशरथ और कैकेयी की कथा, भागवत में ययाति का प्रसंग—सभी में बुजुर्गों का ज्ञान परिवार की नींव माना गया है। वृद्धजनों को 'चलित–वेद' कहा गया, जिसका आशय था कि उनके अनुभव में शास्त्रों की व्याख्या निहित है।

संयुक्त परिवार का मूल भाव भी यही था कि परिवार के सबसे वरिष्ठ सदस्य निर्णयों के केन्द्र में रहें। बच्चों के संस्कार दादा–दादी की कथाओं से स्थापित होते थे, शिक्षा केवल पुस्तकों से नहीं, बल्कि व्यवहारिक अनुभव से दी जाती थी। यही कारण है कि भारतीय समाज में वृद्धजनों के प्रति सम्मान केवल नैतिक आदेश नहीं बल्कि सामाजिक आवश्यकता थी।

इस सांस्कृतिक परंपरा ने परिवार में प्रेम, सहानुभूति और परस्पर दायित्वों का संतुलन बनाए रखा। वृद्धजन परिवार को संयम, धैर्य, संघर्ष, त्याग और नैतिकता की शिक्षा देते थे; इसीलिए उन्हें 'आशीर्वाददाता' और 'मार्गदर्शक' कहा गया। परन्तु यह परम्परा आधुनिक आर्थिक आकांक्षाओं और पारिवारिक संरचनाओं में परिवर्तन से धीरे–धीरे कमजोर होने लगी।

आज जहाँ परिवारों में निर्णय युवा स्वयं लेते हैं, वहीं वृद्धजन या तो उपेक्षित होते हैं, या केवल औपचारिक सम्मान के पात्र होते हैं। आधुनिकता ने ज्ञान को पुस्तकों, इंटरनेट और तकनीकी माध्यमों में केंद्रीभूत कर दिया, जिससे अनुभव का मूल्य धीरे–धीरे कम होता गया। इस परिवर्तन ने वृद्धजनों को परिवार के केन्द्र से परिधि की ओर धकेल दिया, और यह वही स्थिति है जिसने न्यायमूर्ति सूर्यकान्त को "सभ्यता के भूचाल" जैसा शब्द प्रयोग करने के लिए विवश किया।

भारतीय समाज में वृद्धजनों की महत्ता केवल भावनात्मक नहीं थी, वे सामाजिक संतुलन, पारिवारिक नैतिकता और पीढ़ीगत निरंतरता के सेतु थे। उनके हटते ही परिवार केवल भौतिक सुविधा का स्थल बनता गया, न कि संबंधों का जीवंत केंद्र। इस अध्ययन का यह भाग इस बात को रेखांकित करता है कि यदि वृद्धजनों की भूमिका कम होगी, तो भारतीय समाज की सांस्कृतिक पहचान और नैतिक स्वास्थ्य दोनों गम्भीर संकट में पड़ेंगे।

आधुनिकता का आवेग और रिश्तों का क्षरण: परिवार–व्यवस्था में सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन का गहन अध्ययन

भारतीय समाज जिस गति से आर्थिक रूप से विकसित हुआ है, उसी गति से उसके भीतर सांस्कृतिक और संबंधात्मक संरचनाओं में परिवर्तन भी आया है। यह परिवर्तन निरपेक्ष, निर्विकार या स्वाभाविक नहीं, बल्कि अत्यन्त जटिल,

बहुआयामी और कभी–कभी विघटनकारी भी सिद्ध हुआ है। आधुनिकता ने जहाँ मनुष्य को कौशल, रोजगार, आय, स्वतंत्रता और सुविधा प्रदान की है, वहीं यह भी सत्य है कि उसी आधुनिकता ने समय, एकनिष्ठता, संवेदना और संबंधों की सहजता का अपहरण भी किया है। भारत की पारम्परिक परिवार–व्यवस्था केवल भावनात्मक निकटता पर नहीं, बल्कि जीवन–मूल्यों के आदान–प्रदान पर आधारित थी, जिसमें संयुक्त श्रम, सामूहिक उत्तरदायित्व, अनुभव का संचरण और वरिष्ठों का मार्गदर्शन अनिवार्य था। लेकिन जैसे–जैसे भारतीय समाज शहरीकरण, औद्योगीकरण और वैश्वीकरण की ओर उन्मुख हुआ, परिवारिक संरचना में एक गहरा परिवर्तन प्रारम्भ हुआ, जिसके परिणामस्वरूप संयुक्त परिवारों का विघटन और एकल परिवारों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई।

समकालीन जीवन की यह गति इतनी तीव्र हो चुकी है कि उसमें विराम का स्थान ही नहीं बचा। लोग तकनीक से जुड़े हैं, परस्पर जुड़े नही हैं; सूचनाओं से भरे हुए हैं, परन्तु भावनाओं से रिक्त, संपर्क सर्वत्र है, पर संवाद दुर्लभ। यही कारण है कि भारत में वृद्धजनों की स्थिति पहले की तुलना में असामान्य रूप से परिवर्तित हुई है। परम्परा में वृद्धजन सम्मान, मार्गदर्शन और निर्णय का केन्द्र थे, पर आधुनिकता में वे धीरे–धीरे परिधि की ओर धकेल दिए गए। इस प्रक्रिया को केवल सामाजिक परिवर्तन न कहकर एक मानसिक–आर्थिक संक्रमण कहना अधिक उपयुक्त होगा।

शहरों में रोजगार की खोज व्यक्ति को परिवार से भौगोलिक रूप से दूर ले जाती है। पहले यह दूरी केवल काम के सिलसिले तक सीमित होती थी, परन्तु अब यह दूरी मन और समय दोनों में प्रवेश कर चुकी है। परिवार केवल एक भावनात्मक संरचना नहीं, बल्कि समय की मांग भी है—संवाद के लिए समय, सेवा के लिए समय, सहानुभूति के लिए समय। आधुनिक व्यस्तता ने समय के इस नैतिक और भावनात्मक निवेश को अत्यंत सीमित कर दिया है। युवा वर्ग कार्य–व्यस्तता, लक्ष्य, स्पर्धा और जीवन–शैली में इतना अधिक उलझ जाता है कि परिवारिक निकटता उसके लिए एक प्रकार का अतिरिक्त भार प्रतीत होने लगती है। यह परिवर्तन केवल प्रवृत्ति का नहीं, बल्कि प्राथमिकताओं का है।

इसी के फलस्वरूप न्यायमूर्ति सूर्यकान्त ने कहा कि समृद्धि चुपचाप नजदीकियों की जगह ले चुकी है। यह वाक्य उस भावनात्मक सत्य की ओर संकेत करता है कि आज मनुष्य संबंध रखने का अभ्यस्त है, निभाने का नहीं, परिवार को मानता है, परंतु उसे समय नहीं देता; माता–पिता से प्रेम करता है, परन्तु उनके साथ बैठने–बात करने की शक्ति और धैर्य खो चुका है। आधुनिकता ने मनुष्य को ऐसा बना दिया है कि वह सामाजिकता का उपभोग मनोरंजन के रूप में करता है, लेकिन उसके नैतिक दायित्वों के रूप में नहीं।

प्रवासन का प्रभाव भी अत्यंत व्यापक है। युवा भारत, चाहे वह बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, केरल, तमिलनाडु या किसी भी प्रदेश से हो, उच्च शिक्षा और रोजगार के लिए महानगरों या विदेशों की ओर बढ़ता है। इस प्रवासन से उसे अवसर अवश्य मिलते हैं, परन्तु परिवार में उसके लिए स्थान धीरे–धीरे औपचारिक होता जाता है। माता–पिता जिन बच्चों को जीवन भर अपने समीप रखकर सुरक्षित, शिक्षित और संस्कारित करते हैं, वही बच्चे आधुनिक जीवन की

मांगों के कारण वर्षों तक घर नहीं पहुँच पाते; और यदि पहुँचते भी हैं तो औपचारिक भेंटों तक संबंध सिमट जाता है। संवाद का यह क्षण केवल बुजुर्गों को ही नहीं, बल्कि परिवार की सांस्कृतिक आत्मा को भी प्रभावित करता है।

एकल परिवारों के बढ़ते प्रचलन ने परिवारिक अनुभवों की विविधता को कम कर दिया है। संयुक्त परिवारों में बचपन, विविध आयु, स्वभाव और अनुभव के लोगों के बीच पनपता था; बच्चे बुजुर्गों की बात सुनते, उनके साथ समय बिताते, जीवन के उतार–चढ़ाव को समझते, और संस्कारों को अनुभव के माध्यम से ग्रहण करते थे। परंतु एकल परिवार में जीवन क्रमशः संकीर्ण होता जाता है, और संबंधों की प्रकृति भावनात्मक की अपेक्षा प्रारूपिक हो जाती है। आर्थिक स्वतंत्रता के साथ स्वावलंबन बढ़ता है, परंतु भावनात्मक दायित्वों की अनुभूति कम हो जाती है।

आधुनिकता ने परिवार को एक संकुचित संरचना में बदल दिया है, जिसमें दायित्वों की अपेक्षा सुविधाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई हैं। यही स्थिति वृद्धजनों को सबसे अधिक प्रभावित करती है। वे परिवार के भीतर होते हुए भी उसके केन्द्र में नहीं रह पाते। संपर्क तो होता है, किंतु सान्निध्य नहीं; देखभाल तो होती है, परन्तु उसमे भावनात्मक ऊष्मा का अभाव होता है। अनेक बार वृद्धजन यह अनुभव करने लगते हैं कि वे परिवार में सहायक नहीं, बल्कि समस्या हैं। यह भावना उनके लिए मानसिक और अस्तित्वगत संकट बन जाती है।

न्यायमूर्ति सूर्यकान्त का "सभ्यता में भूचाल" कहना इसलिए उचित है, क्योंकि यदि परिवार में ही संवेदना कम हो जाए तो समाज में सह–अस्तित्व, करुणा और नैतिकता का आधार ही कमजोर पड़ जाता है। सभ्यता का वास्तविक मूल्य तकनीक, इमारतें और संपन्नता नहीं, बल्कि मनुष्यों के बीच आत्मीयता है। यह आत्मीयता यदि न रहे, तो समाज भले ही विकसित दिखे, पर वह भीतर से रिक्त हो जाता है।

आज का भारत बाह्य रूप से चमक रहा है; उसके नगर भव्य हो रहे हैं, उद्योग बढ़ रहे हैं, तकनीक उन्नत हो रही है, और सेवाओं का विस्तार अभूतपूर्व है। परन्तु इस चमकते आवरण के भीतर संबंधों का धीमा क्षय, परिवारिक संवाद का लोप और पीढ़ियों के बीच मानसिक दूरी बढ़ना एक गहरे संकट का संकेत है। समाज तभी स्वस्थ रह सकता है जब उसकी पारंपरिक ऊष्मा, परस्पर दायित्व और संवेदनाएँ जीवित रहें। यदि समृद्धि के पीछे यह सब खो जाए, तो मनुष्य स्वयं को किसी मशीन का पुर्जा मात्र समझने पर विवश हो जाएगा। अतः आधुनिकता और परम्परा के मध्य संतुलन अत्यावश्यक है, जिससे विकास के साथ संबंधों की आत्मा भी सुरक्षित रहे।

वृद्धजनों की उपेक्षाः सामाजिक, मानसिक और नैतिक आयामों का समग्र अध्ययन

भारतीय समाज में वृद्धजनों की स्थिति पर विचार करते समय यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनकी उपेक्षा केवल भावनात्मक या संयोगजन्य घटना नहीं, बल्कि एक जटिल सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम है। वृद्धावस्था जीवन का वह चरण है जिसमें व्यक्ति अनुभव, ज्ञान, धैर्य और स्थिरता से समृद्ध होता है, किन्तु शारीरिक, आर्थिक और मानसिक दृष्टि से उसे सहयोग की आवश्यकता होती है। भारतीय परम्परा इस चरण को आध्यात्मिक उन्नयन, ज्ञान–संचयन

और पारिवारिक नेतृत्व के रूप में देखती थी; परन्तु आधुनिक समाज में यह चरण अनेक बार निर्भरता, उपेक्षा और अकेलेपन का प्रतीक बन गया है।

वृद्धजनों की उपेक्षा का सबसे बड़ा कारण परिवारिक संरचना में आया परिवर्तन है। प्रवासन और व्यावसायिक व्यस्तता के कारण बच्चे अपने माता–पिता से वर्षों दूर रहते हैं। फोन और वीडियो कॉल संवाद की न्यूनतम सुविधा अवश्य प्रदान करते हैं, परन्तु यह संवाद वास्तविक सान्निध्य का स्थानापन्न नहीं बन सकता। वृद्धजनों को केवल बात की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उपस्थिति की आवश्यकता होती है। उनके लिए प्रेम शब्दों से नहीं, समय और सहानुभूति से मापा जाता है। जब परिवार में यही दो तत्व कम होने लगते हैं, तब उपेक्षा की अनुभूति स्वाभाविक रूप से बढ़ती है।

मानसिक उपेक्षा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अनेक वृद्धजन स्वयं को "अप्रासंगिक" महसूस करने लगते हैं। आज की तकनीकी और डिजिटल दुनिया में, जहाँ निर्णय–प्रक्रियाएँ तीव्र, तात्कालिक और सूचना–आधारित हैं, वहाँ अनुभव–आधारित ज्ञान का मूल्य कम होता जा रहा है। युवा वर्ग मानता है कि इंटरनेट सब कुछ बता सकता है; परिणामतः बुजुर्गों के अनुभव की महत्ता न्यून हो जाती है। यह स्थिति वृद्धजनों की मानसिक स्थिरता को गहरे स्तर पर प्रभावित करती है।

आर्थिक उपेक्षा भी एक कटु यथार्थ है। अनेक बार परिवार वृद्धजनों की आय और पेंशन पर निर्भर होने लगता है, परन्तु उन्हें उसी अनुपात में सम्मान नहीं दिया जाता। कुछ मामलों में आर्थिक शोषण भी देखने को मिलता है। यह स्थिति केवल व्यक्तिगत नैतिकता का प्रश्न नहीं, बल्कि सामाजिक संस्कारों के ह्रास का संकेत है।

भावनात्मक उपेक्षा सबसे अधिक पीड़ादायक है। परिवार में संवाद की कमी, दायित्वों का कम होना, निर्णयों में शामिल न किया जाना, परिवार के कार्यक्रमों से धीरे–धीरे अलग पड़ जाना—ये सभी तत्व वृद्धजनों में अकेलापन और अवसाद की भावना को गहरा करते हैं। अनेक वृद्धजन अपने अंतिम वर्षों में यह अनुभव करते हैं कि वे जीवन भर जिस परिवार को अपनी शक्ति, समय, श्रम और त्याग दिये, वही परिवार एक दिन उन्हें 'अतिरिक्त' या 'अनावश्यक' समझने लगता है।

यह स्थिति केवल व्यक्ति या परिवार के लिए ही नहीं, पूरे समाज के लिए घातक है। जब परिवारिक संरचना इस प्रकार टूटती है, तब सामाजिक ताना–बाना भी कमजोर होता है। सम्मान, करुणा और परस्पर दायित्व—ये तीन मूल्य यदि समाप्त हो जाएँ, तो समाज का नैतिक आधार ही समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि न्यायमूर्ति सूर्यकान्त ने इस संकट को केवल पारिवारिक या स्थानीय समस्या नहीं, बल्कि 'सभ्यता का संकट' कहा है। उनके शब्द इस ओर संकेत करते हैं कि समाज तभी टिक सकता है जब वह अपने वृद्धजनों का सम्मान, सेवा और संरक्षण करे।

भारत में वृद्धाश्रमों की बढ़ती संख्या भी इस सामाजिक विकृति का स्पष्ट सूचक है। वृद्धाश्रम का अस्तित्व अंतर्निहित रूप से गलत नहीं है, किंतु उसका बढ़ना यह दर्शाता है कि पारिवारिक प्रणालियाँ वृद्धजनों का प्राकृतिक संरक्षण देने

में असमर्थ हो रही हैं। वृद्धजन जो जीवन भर घर, परिवार, बच्चों और समाज के लिए सेवा करते रहे, जब वे जीवन के अंतिम चरण में स्वयं को वृद्धाश्रमों में पाते हैं, तब यह केवल व्यक्तिगत व्यथा नहीं, बल्कि समाज की सामूहिक विफलता बन जाती है।

इस भाग का सार यह है कि वृद्धजनों की उपेक्षा एक सामान्य घटना नहीं, बल्कि वर्तमान सामाजिक संरचना के नैतिक संकट का परिणाम है। यह उपेक्षा सभ्यता की जड़ों तक को प्रभावित करती है, क्योंकि सभ्यता की पहचान केवल उसके विकास में नहीं, बल्कि उसके व्यवहार, दायित्वबोध और संबंधों की गरिमा में निहित है।

भारतीय विधि–व्यवस्था और न्यायिक दृष्टिकोणः वृद्धजनों के संरक्षण का संवैधानिक आयाम

भारतीय संविधान ने प्रत्येक नागरिक को गरिमापूर्ण जीवन का अधिकार प्रदान किया है, और यह गरिमा केवल युवा अवस्था या उत्पादक वर्षों तक सीमित नहीं, बल्कि संपूर्ण जीवन में व्याप्त है। वृद्धावस्था जीवन का ऐसा चरण है जिसमें व्यक्ति ने समाज को पर्याप्त योगदान दिया होता है; अतः समाज और राज्य का यह दायित्व बनता है कि वह वृद्धजनों के जीवन को सम्मान, सुरक्षा और स्नेह के साथ सम्पन्न बनाए। परन्तु वास्तविकता अक्सर इससे भिन्न दिखाई देती है। पारिवारिक संरचना के विघटन और आधुनिकता की गति ने वृद्धजनों की स्थिति को नाजुक बना दिया है। इस परिस्थिति में भारतीय विधि–व्यवस्था ने कई उपबंध स्थापित किए हैं जो वृद्धजनों की गरिमा की रक्षा करते हैं।

भारत सरकार ने 2007 में 'माता–पिता और वरिष्ठ नागरिक भरण–पोषण अधिनियम' का निर्माण किया, जो वृद्धजनों के अधिकारों को विधिक संरक्षण प्रदान करने वाला प्रमुख विधान है। यह अधिनियम उन परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ जहाँ कई परिवारों में बुजुर्गों की उपेक्षा, आर्थिक शोषण, त्याग, या मानसिक तनाव बढ़ता जा रहा था। संयुक्त परिवारों के टूटने से जो सुरक्षा–छत्र वृद्धजनों को सहज ही प्राप्त होता था, वह आधुनिक समय में उपलब्ध नहीं रहा। ऐसे में यह अधिनियम परिवार और समाज को याद दिलाता है कि वृद्धजनों का भरण–पोषण केवल नैतिक नहीं, बल्कि विधिक कर्तव्य भी है।

इस अधिनियम के अंतर्गत कोई भी माता–पिता, चाहे वे जैविक हों, दत्तक या सौतेले, और कोई भी वरिष्ठ नागरिक, जो 60 वर्ष या उससे अधिक आयु के हों, यदि वे अपने बेटे, बेटी, पोते, दामाद या अन्य उत्तरदायी संबंधियों द्वारा उपेक्षित हों, तो वे भरण–पोषण की मांग कर सकते हैं। यह कानूनी उपबंध इसलिए आवश्यक था क्योंकि उपेक्षा कई बार स्पष्ट नहीं होती है, वह धीरे–धीरे प्रकट होने वाली वह प्रक्रिया है जो वृद्धजनों को मानसिक व शारीरिक दोनों रूपों में क्षतिग्रस्त करती है। न्यायालयों ने कई अवसरों पर यह स्पष्ट किया कि वृद्धजनों के अधिकार किसी दान या कृपा का विषय नहीं, बल्कि उनकी गरिमा और मानवाधिकारों की अभिव्यक्ति हैं।

भारतीय न्यायपालिका ने वृद्धजन संरक्षण के संबंध में अत्यंत संवेदनशील दृष्टिकोण अपनाया है। सर्वोच्च न्यायालय और विभिन्न उच्च न्यायालयों ने अनेक मामलों में यह दोहराया है कि वृद्ध जन समाज की नैतिक पूँजी हैं और उनकी

उपेक्षा न केवल विधिक उल्लंघन है, बल्कि भारतीय संस्कृति के विरुद्ध भी है। न्यायालयों ने कई मामलों में यह भी कहा कि वृद्धजनों को केवल आर्थिक सहायता नहीं, बल्कि भावनात्मक और सामाजिक संरक्षण भी प्राप्त होना चाहिए।

न्यायमूर्ति सूर्यकान्त का ताजा वक्तव्य इसी न्यायिक परम्परा का विस्तृत और दार्शनिक स्वरूप है। यह वक्तव्य केवल एक सामाजिक चेतावनी नहीं, बल्कि भारतीय संवैधानिक मूल्य–प्रणाली का पुनर्स्मरण भी है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि यदि आधुनिकता हमें वृद्धजनों से विमुख कर दे, तो यह परिवर्तन केवल सामाजिक नहीं, बल्कि सभ्यतागत पतन का संकेत है। यही कारण है कि न्यायालयों ने कई बार माता–पिता की संपत्ति पर अवैध कब्जे, उपेक्षा, मानसिक यातना या आर्थिक शोषण के मामलों में कठोर निर्णय दिए हैं और समाज को यह संदेश दिया है कि वृद्धजनों की सुरक्षा राज्य और समाज की संयुक्त जिम्मेदारी है।

भारतीय विधिक ढाँचा हालांकि कई उपबंध प्रदान करता है, किन्तु केवल विधि किसी समाज को संवेदनशील नहीं बना सकती। संवेदनशीलता कानून से नहीं, संस्कृति से आती है; लेकिन संस्कृति तभी फलती–फूलती है जब कानून उसका समर्थन करे। भारतीय न्यायपालिका का दृष्टिकोण इसी समन्वय की ओर इशारा करता है— वृद्धजन केवल संरक्षित किए जाने वाले व्यक्ति नहीं, बल्कि वह वटवृक्ष हैं जिनकी छाया में पीढ़ियाँ पनपती हैं। अतः यह अनिवार्य है कि कानून वृद्धजनों को सुरक्षा दे और समाज उन्हें सम्मान दे।

न्यायमूर्ति सूर्यकान्त का यह कथन कि 'पुरानी दुनिया खो रही है' वास्तव में उस सांस्कृतिक आधार का विखंडन है जो भारतीय समाज को विशिष्ट बनाता रहा है। यदि परिवार से संवेदनाएँ टूटती हैं, यदि वृद्धजनों को बोझ समझा जाता है, यदि आधुनिकता संबंधों को केवल औपचारिकता में परिवर्तित कर देती है, तो संविधान की आत्मा ही क्षतिग्रस्त हो जाती है, क्योंकि संविधान केवल अधिकारों का दस्तावेज नहीं, वह भारतीय समाज की आत्मा और आदर्शों का प्रतीक भी है।

सांस्कृतिक पुनर्निर्माण और मूल्य–परक समाधानः भारतीय समाज के लिए भावी मार्ग

आधुनिकता और परम्परा के संघर्ष में वह पक्ष विजयी होना चाहिए जो मनुष्य को अधिक मानवीय बनाता है। यदि आधुनिकता प्रगति दे सकती है, तो परम्परा संवेदना देती है; यदि विज्ञान जीवन को सरल बनाता है, तो संस्कृति उसे सार्थक बनाती है। आज भारत जिस मोड़ पर खड़ा है, वहाँ केवल एक विकल्प चुनना पर्याप्त नहीं, बल्कि दोनों के समन्वय से ही वह समाज पुनः अपनी सांस्कृतिक पहचान और मानवीय शक्ति को बचा सकता है।

वृद्धजनों की उपेक्षा का समाधान केवल परिवारों को समझाकर या कानून बनाकर नहीं किया जा सकता। इसके लिए समाज की मानसिकता में व्यापक परिवर्तन आवश्यक है। बच्चों में प्रारंभ से ही यह शिक्षा विकसित करनी होगी कि वृद्धजन केवल आयु में बड़े नहीं होते, बल्कि अनुभव, ज्ञान और इतिहास के वाहक होते हैं। यदि बच्चा बचपन से ही दादा–दादी या नाना–नानी के साथ समय बिताता है, उनकी कहानियाँ सुनता है, उनके अनुभवों से सीखता है, तो वह बड़े होकर पारिवारिक मूल्यों से विमुख नहीं होगा।

संस्कृति केवल पुस्तकों में नहीं सिखाई जाती, वह परिवार के वातावरण में साँस लेती है। इसलिए परिवार को पुनः संवाद–केंद्रित बनाना होगा। आज तकनीक ने हमारे घरों में उपकरण तो दे दिए हैं, पर समय नहीं दिया। पारिवारिक भोजन, सामूहिक पूजा, परम्परागत उत्सव, त्योहारों की सामूहिकता, और सप्ताह के कुछ समय को केवल परस्पर संवाद के लिए समर्पित करना— ये सभी उपाय उस खोती हुई दुनिया को पुनर्जीवित कर सकते हैं जिसकी ओर न्यायमूर्ति सूर्यकान्त ने संकेत किया है।

समाज को यह भी समझना होगा कि वृद्धजन केवल परिवार की जिम्मेदारी नहीं हैं। वे समाज की नैतिक संपत्ति हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर नगरपालिकाओं, ग्राम पंचायतों और सामुदायिक संगठनों को भी वृद्धजनों हेतु सुविधाएँ विकसित करनी चाहिए —जैसे सामुदायिक केन्द्र, कहानी–सत्र, योग–शिविर, परामर्शक सेवाएँ, और मनोवैज्ञानिक सहायता–समूह। यदि समाज वृद्धजनों को सक्रिय रख सके, तो उनका एकाकीपन घटेगा और जीवन की गरिमा बढ़ेगी।

मीडिया और शिक्षा–प्रणाली भी मूल्य–नवीनीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। फिल्मों, धारावाहिकों, साहित्य और डिजिटल मंचों पर बार–बार यह चित्रण होना चाहिए कि वृद्धजन परिवार के केंद्र हैं, न कि बोझ। ऐसी सामग्री समाज को संवेदनशील बनाती है।

भारत की परम्परा में "सेवा" और "भक्ति" दो ऐसे मूल्य हैं जो जीवन को सार्थक बनाते हैं। वृद्धजनों की सेवा केवल कर्तव्य नहीं, बल्कि आत्मिक उन्नति का साधन भी मानी गई है। यदि आधुनिक भारत इस मूल्य को पुनर्स्थापित कर सके, तो वह न केवल सामाजिक संकट से उबरेगा, बल्कि सांस्कृतिक रूप से भी समृद्ध होगा।

निष्कर्ष

भारत एक ऐसी सभ्यता है जिसकी शक्ति केवल उसकी भौगोलिक या आर्थिक संपन्नता में नहीं, बल्कि उसके संबंधों की ऊष्मा, परम्पराओं की गहराई और परिवारिक संरचना की दृढ़ता में निहित रही है। न्यायमूर्ति सूर्यकान्त का चिंतन इसी मूल–सत्य की याद दिलाता है कि यदि पीढ़ियों का संवाद टूट जाए, यदि वृद्धजन परिधि पर धकेल दिए जाएँ, और यदि समृद्धि मानवीय संबंधों का स्थान ले ले, तो विकास का अर्थ ही बदल जाता है। आधुनिकता की रफ्तार जितनी तीव्र है, उसका संकट भी उतना ही गहरा है।

यह शोध–पत्र इस तथ्य को स्थापित करता है कि वृद्धजनों की उपेक्षा केवल भावनात्मक समस्या नहीं, बल्कि सामाजिक, विधिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक समस्या भी है। यदि समाज में आदर, संवेदना और परस्पर दायित्वों का लोप हो जाए, तो सभ्यता आत्महीन हो जाती है। वृद्धजन वह सेतु हैं जो अतीत को भविष्य से जोड़ते हैं, वे अनुभव की वह ज्योति हैं जो पीढ़ियों को दिशा देती है।

अतः भारत का भविष्य तभी सुरक्षित हो सकता है जब वह अपनी इस विशेष संस्कृति को न केवल पहचानता रहे, बल्कि उसे जीवन में सक्रिय रूप से लागू भी करे। आधुनिकता और परम्परा के मध्य संतुलन ही इस संकट से मुक्ति

का मार्ग है। संबंधों की ऊष्मा, संवाद की निरंतरता, और वृद्धजनों के प्रति सम्मान—इन तीन तत्वों को पुनर्स्थापित कर भारत अपने विशिष्ट सांस्कृतिक स्वरूप को पुनः जीवित कर सकता है। यही माननीय न्यायमूर्ति सूर्यकान्त की चेतावनी का सार है, और यही भारतीय समाज की भावी गरिमा का मार्ग भी।

संदर्भ सूची

चटर्जी, पी. (2019). भारतीय परिवार प्रणालीः एक समाजशास्त्रीय दृष्टि. नई दिल्लीः सेज पब्लिकेशन्स।

देसाई, आई. पी. (2020). भारत में संयुक्त परिवार का बदलता स्वरूप. मुंबईः हिमालय पब्लिशिंग हाउस।

गुप्ता, एन. (2018). समकालीन भारत में वृद्धों की देखभालः समस्याएँ और संभावनाएँ। जर्नल ऑफ सोशल डेवलपमेंट स्टडीज, 12(2), 45–61।

कुमार, एस., एवं सिंह, आर. (2021). भारत में परिवार–परिवर्तनः आधुनिकीकरण का प्रभाव। इंडियन जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी, 44(1), 22–39।

सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय। (2007). माता–पिता तथा वरिष्ठ नागरिक भरण–पोषण एवं कल्याण अधिनियम, 2007. भारत सरकार।

मिश्र, ए. (2017). शहरी भारत में वृद्धावस्था और एकाकीपन। इंडियन जर्नल ऑफ जिरॉन्टोलॉजी, 31(3), 289–304।

नायर, पी. के. (2016). भारत में बढ़ती उम्रः उपेक्षित वृद्धों की आवाजें. जयपुरः रावत प्रकाशन।

पांडेय, जी. (2020). आधुनिकता और उसके द्वंद्वः एक सांस्कृतिक अध्ययन। इंडियन जर्नल ऑफ कल्चरल स्टडीज, 8(4), 13–28।

पात्रा, एस. (2018). एकल परिवारों में वृद्धों का भावनात्मक कल्याण। इंडियन साइकोलॉजिकल रिव्यू, 55(1), 62–78।

रंगनाथन, एम. (2015). भारत में वृद्धावस्थाः सामाजिक नीति और वरिष्ठ नागरिक अधिकार। सोशल पॉलिसी एंड डेवलपमेंट रिव्यू, 22(2), 33–52।

शर्मा, ओ. पी. (2019). भारतीय परिवारों में वृद्ध–उत्पीड़नः एक बढ़ती चिंता। जर्नल ऑफ फैमिली वेलफेयर, 65(1), 14–30।

सिंह, के. (2020). भारतीय संस्कृति में मूल्य और नैतिकता. नई दिल्लीः मैकमिलन पब्लिशर्स।

सर्वोच्च न्यायालय। (2023). वृद्ध अधिकारों और पारिवारिक दायित्वों पर निर्णय। ऑल इंडिया रिपोर्टर, एस.सी. 1254–1262।

तिवारी, एस. (2021). भारतीय परिवारों पर वैश्वीकरण का सामाजिक–सांस्कृतिक प्रभाव। इंटरनेशनल रिव्यू ऑफ ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंसेस, 10(1), 84–102।

संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष (UNFPA). (2017). हमारे वृद्धों की देखभालः प्रारंभिक प्रतिक्रियाएँ — भारत वृद्धावस्था रिपोर्ट. नई दिल्लीः यूएनएफपीए।

वर्मा, पी. के. (2015). बीइंग इंडियनः क्यों 21वीं सदी भारत की होगी? पेंगुइन बुक्स।

वर्मा, आर. (2018). भारत में पीढ़ीगत संबंधः एक सांस्कृतिक अध्ययन। एशियन जर्नल ऑफ सोशल रिसर्च, 11(2), 98–117।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO). (2020). विश्व वृद्धावस्था एवं स्वास्थ्य रिपोर्ट. जेनेवाः डब्ल्यूएचओ प्रेस।

यादव, एस. (2022). संयुक्त परिवार से एकल परिवारः सामाजिक–नैतिक मूल्यों में परिवर्तन। **इंडियन** जर्नल ऑफ एथिक्स एंड सोसाइटी, 5(3), 47–59।

येवाले, ए. (2019). भारत में वृद्ध जनसंख्या और सामाजिक सुरक्षा। डेमोग्राफिक स्टडीज रिव्यू, 9(1), 73–91।